

शोधपरक् प्रगति विवरण

सामान्यतः यह देखा गया है कि 'धर्म/अध्यात्म' से जुड़ा व्यक्ति या 'साधक/साधिका' जो दैनिक पूजा/अर्चना करते हैं, उसका कोई निश्चित विधि/विधान नहीं है। सनातनी परम्परा या अन्य उसके तारतम्य से जुड़ी परम्परा के अन्तर्गत, व्यक्ति 'साधक/साधिका' जब कुछ दिनों या लम्बे अन्तराल तक दैनिक पूजा या साधना कर लेता है और अपने वांछित 'लक्ष्य/साध्य' से किसी न किसी कारण से वंचित रह जाता है तो वह उसके सम्बन्ध में तथाकथित विज्ञानों से कारण जानना चाहता है। 'धर्म/अध्यात्म' से जुड़े विज्ञान उसे अपना अनुभव या विद्वता को समझा कर उसका वर्तमान गुरु या मार्गदर्शक बन जाते हैं।

लम्बे समय तक जब उसके 'अन्तः बाह्य' का भटकाव दूर नहीं हो पाता है तो वही तथाकथित मार्गदर्शक उसके पात्रता या प्रयास पर प्रश्नचिन्ह लगाकर उससे दूर भागने लगते हैं। इस भ्रमयुक्त क्रम में 'धर्म/अध्यात्म' का आपेक्षित पड़ाव उससे कोसों दूर चला जाता है। ऐसी विषम स्थिति में वह भी भ्रमित होकर तथाकथित 'आस्था/अनास्था' के मध्य भटकने लगता है।

प्रश्न यह उठता है कि - 'धर्म/अध्यात्म' के अतिव्यापक और असीमित - अनन्तगामी कैनवास में व्यक्ति 'साधक/साधिका' प्रवेश कैसे करे ? इसी के साथ - साथ हर व्यक्ति के 'अन्तः बाह्य' में एक स्वाभाविक 'प्रश्नचिन्ह' उत्पन्न होता है कि - इन सबका मापदण्ड क्या होगा ?

हर 'धार्मिक /आध्यात्मिक' व्यक्ति के 'अन्तः बाह्य' में यह जिज्ञाशा स्वतः अंकुरित/ प्रस्फुटित होती रहती है कि - 'साधना के निरंतर क्रमिक क्रम में हमें कैसे पता चलेगा कि आध्यात्मिक शक्तियां हमारे निकट हैं या हमसे बहुत दूर हैं। फिर उससे जुड़ने के लिए सही मार्ग क्या होगा ?' - इसी उतार - चढ़ाव में अधिकांश व्यक्ति अपना पूरा का पूरा जीवन लगा देता है। अन्त में थक हार कर अपने जीवन के अन्तिम पड़ाव पर स्वतः के कुबड़ेपन को लेकर यह सोचने के लिए विवश हो जाता है कि - 'कहीं हमारे आध्यात्मिक यात्रा का आरम्भ ही तो गलत नहीं था'।

उपरोक्त भ्रमयुक्त और उलझावपूर्ण 'धार्मिक/आध्यात्मिक' परिस्थितियों से पूर्णतः उबरने के लिए यह 'अज्ञानाश्रय ट्रस्ट' निरंतर प्रयत्नशील है। इस 'मेटाफिजिकल - एकेडमिक ट्रस्ट' का आरम्भिक कार्य ही यह है कि - भौतिकता और आध्यात्मिकता के मध्य एक ऐसे सेतुबन्ध की स्थापना की जाय जो निरंतर किसी न किसी रूप में मानव और - उससे जुड़ी मानवता से कोई न कोई समन्वय स्थापित करता रहे। वही तथाकथित 'भौतिकता

और आध्यात्मिकता' के मध्य का समन्वय व्यक्ति 'साधक/साधिका' के 'अन्तः बाह्य' का कोई न कोई आध्यात्मिक नियामक सिद्ध होगा। 'आध्यात्मिकता और भौतिकता' के मध्य स्थायी सेतुबन्ध स्थापित करने या दोनों के मध्य परिवर्तनशील संतुलन बनाने के पूर्व व्यक्ति 'साधक/साधिका' के 'अन्तः बाह्य' में स्वाभाविक क्रम में उत्पन्न प्रश्नयुक्त जिज्ञाशाओं पर भी गहराई से विचार कर लेना आवश्यक है। इसे निम्नक्रम में प्रस्तुत किया जा सकता है –

1. अमुक व्यक्ति या साधक/साधिका लम्बे समय से निरंतर साधनारत् हैं। लेकिन इस लम्बे अन्तराल की साधना के उपरान्त भी उन्हें न तो कोई भौतिक उपलब्धि हुई और न ही आध्यात्मिक। ऐसा क्यों ?

2. एक व्यक्ति सुबह – शाम मन्दिर में देवी – देवता के सामने पूजा/अर्चना करके निरंतर घंटी बजाता है, एक व्यक्ति पांचों वक्त की नमाज पढ़ता है और मस्जिद में जाकर इबादत करता है और एक व्यक्ति गिरजा में जाकर प्रार्थना करता है। लेकिन इसके बावजूद भी वह सबके सब ऐसी जनसमस्याओं में उलझे हुए हैं जो उनके लिए कभी – कभी छोटी – बड़ी घटना/दुर्घटना का रूप ले लेती है। ऐसी विषम स्थिति या परिस्थिति में प्रश्न यह उठता है कि – उन सबमें 'भौतिकता/आध्यात्मिकता' के मध्य का आपेक्षित समन्वय क्यों नहीं बन पा रहा है ?

3. यदि हम थोड़ी देर के लिए 'जन्म – जन्मान्तर' या 'पुनर्जन्म' पर भी विश्वास या अविश्वास कर लें तो भी व्यक्ति के अन्तः बाह्य' में यह प्रश्न उठना आवश्यक है कि – हम उन सब की भरपाई कब तक करते रहेंगे ?

4. व्यक्ति 'साधक/साधिका' अपने अनवरत् साधना के अन्तराल में, 'भौतिकता /आध्यात्मिकता' के मध्य 'मेटाफिजिकल' क्रम में यह कैसे समझ पायेगा कि वह आपेक्षित साधना में परिपक्व हो चुका है ?

5. सामान्यतः सिद्ध/समर्थ 'साधक/साधिका' का यह कहना है कि – साधना के अनवरत् क्रम में जब आनन्द या परमानन्द का अनुभव होने लगे तो यह समझना चाहिए कि साधनायुक्त व्यक्ति में साधना की परिपक्वता आने लगी है।

लेकिन तथाकथित असाधु व्यक्ति दुष्कृत्य कर्मों के अन्तर्गत भी आनन्द का अनुभव करता है। क्या इसे भी साधना की परिपक्वता कही जायेगी ?

उपरोक्त जिज्ञाशायुक्त प्रश्नों को ध्यान में रखते हुए 'मेटाफिजिकल' क्रम में साधना आरम्भ करने से पूर्व व्यक्ति 'साधक/साधिका' को भौतिक क्रम में कैसे साधना आरम्भ करके आध्यात्मिक क्रम में प्रवेश करने का प्रयास करना चाहिए। इस जटिलतम् –

बिन्दु या रहस्य को निम्न क्रम में समझा जा सकता है –

‘मेटाफिजिकल’ क्रम में ‘भौतिकता और आध्यात्मिकता’ के मध्य आध्यात्मिक ऊर्जा एक ऐसा तारतम्य स्थापित करती है जिससे व्यक्ति ‘साधक/ साधिका’ वह सब अपने अन्तः चक्षु से देखने या अन्तः बाह्य में अनुभव करने लगता है जो सामान्य व्यक्ति के लिए दुर्लभ या असम्भव है। लेकिन इस क्रम परम्परा से जुड़ने के लिए उसे एक अदद ‘देवतत्व’ की आवश्यकता पड़ती है।

भौतिकता के बृहद कैनवास में किसी भी व्यक्ति या ‘साधक/साधिका’ को साधना के किसी भी क्रम से जुड़ने के लिए सबसे पहले अपने ‘माता – पिता’ और प्रथम गुरु से जुड़ने का प्रयास करना चाहिए। यह तीनों व्यक्ति भौतिकता के अन्तर्गत उसके लिए ‘त्रिदेव’ के समान हैं। इन त्रयी महाशक्तियों से सही मायने में जुड़ने के उपरान्त, उसके लिए साधना का वह मार्ग प्रशस्त हो जाता है, जो उसे आध्यात्मिकता की ओर ले जाने में हर तरह से सहायक सिद्ध होगा। अब प्रश्न यह उठता है कि पृथिवी के इन तीनों भौतिक देवता से व्यक्ति सही मायने में कैसे जुड़े ? – यह अतिविचारणीय प्रश्न है।

भौतिकता के अन्तर्गत, ‘माता – पिता और प्रथम गुरु’— ऐसे त्रयी देवता हैं जो ‘मेटाफिजिकल’ क्रम में निरंतर आध्यात्मिक ऊर्जा संग्रहित और विसर्जित करते रहते हैं। आध्यात्मिक ऊर्जा का संग्रह केन्द्र उनके मस्तिष्क के मध्य का शिखा स्थल होता है और उसके विसर्जन का स्रोत उनके दोनों पैरों के अंगूठे का ऊपरी नाखून होता है। सम्भवतः इसी क्रम के अन्तर्गत पैर छूने की परंपरा विकसित हुई होगी।

कोई भी व्यक्ति या साधक/ साधिका, जो आध्यात्मिक क्रम में साधना आरम्भ करना चाहता है उसे चाहिए कि उससे पूर्व अपनी पात्रता को विकसित करने के लिए ‘माता – पिता और प्रथम गुरु’ को निम्नक्रम में प्रसन्न करने का प्रयास करे –

1. प्रतिदिन सोकर उठने के उपरान्त, इन तीनों का चरण स्पर्श करे। उसी क्रम में रात्रि विश्राम से पूर्व इन तीनों भौतिक महाशक्तियों का चरण स्पर्श करे। इस अनवरत् क्रम को कम से कम तीन माह तक पूरा करने के उपरान्त उसे साधना आरम्भ करनी चाहिए।
2. ‘माता – पिता और प्रथम गुरु’ को हर तरह से प्रसन्न रखने के लिए उसे हर सम्भव प्रयास करना चाहिए। इन प्रयासों में उसे किसी भी प्रकार के लाभ – हांनि को समावेशित नहीं करना चाहिए। क्योंकि यही पात्रता उसके तथाकथित साधना के लक्ष्य को निर्धारित करेगा।
3. ‘माता – पिता और प्रथम गुरु’ में, यदि कोई जीवित नहीं है तो उसे उनकी प्रतिमा को सामने रखकर उनकी पूजा/अर्चना करके उसे साधना के मार्ग में आगे बढ़ने का प्रयास करना चाहिए।

उपरोक्त त्रयी बिन्दुओं से सम्बन्धित व्यक्ति को ‘भौतिक देवता’ कहने पर निश्चित रूप से विज्ञ समाज या ‘धार्मिकता/आध्यात्मिकता’ से जुड़े व्यक्तियों के अन्तः बाह्य

में यह प्रश्न उठ सकता है कि – इन्हें (माता/पिता और प्रथम गुरु) भौतिक देवता कैसे मान लिया जाय ? यदि इन्हें भौतिक क्रम में देवता मान लिया जायेगा तो इन्हीं भौतिक क्रम में धार्मिक स्थलों पर विद्यमान या स्थापित 'देवी/देवता' की मूर्तियों और उन सबकी बड़ी – बड़ी, लम्बी – चौड़ी प्रतिमाओं का क्या होगा ? उनके समकक्ष इन तथाकथित त्रयी भौतिक देवता (माता/पिता और प्रथम गुरु) को कैसे लाया जा सकता है? क्या इन सबसे 'धार्मिक/आध्यात्मिक' पूर्व/वर्तमान मान्यताएं प्रभावित नहीं होंगी ? ...फिर यह तीनों (माता/पिता और प्रथम गुरु) तो वृद्धावस्था में स्वयं हमारे आश्रित हैं। ऐसे में, इन्हें भौतिक देवता मानना कहां तक धर्मसंगत होगा ? जब यह सब धर्मसंगत ही नहीं होगा तो इन सबका अस्तित्व अध्यात्म से कैसे जुड़ पायेगा ?

विज्ञान या धर्मयुक्त व्यक्ति के अन्तः बाह्य द्वारा उपरोक्त प्रश्नयुक्त जिज्ञाशाओं का अंकुरण या स्वाभाविक प्रस्फुटन एक दम से निराधार नहीं है। लेकिन यह सबका सब विविध प्रामाणिकता के स्तर पर सोलहो आना सही हो – यह भी आवश्यक नहीं है। लेकिन इन सबके साथ – साथ यह भी सच है कि – व्यक्ति का जब कोई अमूल्य वस्तु या प्रियजन खो जाते हैं या उनकी भौतिक आंखों से ओझल हो जाते हैं तो वह उन्हें ढूढ़ने – खोजने के लिए उन स्थलों पर भी जाता है जहां उसे नहीं जाना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक व्यक्ति अपने 'अन्तः बाह्य' के अन्दर विद्यमान सूक्ष्मतम कणों की तात्विक मीमांसा करने का प्रयास नहीं करेगा तब तक उसे उपरोक्त प्रश्नयुक्त वक्तव्य या अन्तहीन निरर्थक जिज्ञाशा ही सही लगेगी।

उपरोक्त सारगर्भित वक्तव्यों के भ्रमयुक्त झंझावातों को ध्यान में रखते हुए त्रयी भौतिक देवता (माता/पिता और प्रथम गुरु) के 'लौकिक/पारलौकिक' देवयुक्त अस्तित्व को क्रमिक क्रम में उन सबको समझा देना आवश्यक है जो इन सबसे विरक्त या विमुख हैं। इस तथाकथित जटिलतम विषय और उससे जुड़े बिन्दुओं को निम्न क्रम में प्रस्तुत किया जा सकता है –

1माता – माता के अस्तित्व और उनकी महानता को समझने और उनका यथासम्भव सम्मान करने वाले विशिष्ट व्यक्तियों में भक्त 'श्रवण कुमार' और 'पाण्डव' का नाम और देवों में 'भग0 गणेश, भग0 श्रीराम, भग0 शनि और भग0 परशुराम' आदि का नाम चारों युगों (सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलयुग) में ऐतिहासिक बन चुका है। जबकि इन 'भौतिक/आध्यात्मिक' विभूतियों ने 'माता' का सम्मान करते हुए कभी यह कारण जानने का प्रयास नहीं किया है कि – प्रकृति में इनकी श्रेष्ठता क्यों है ? माता की श्रेष्ठता और अमरत्व जैसा अस्तित्व को निम्न क्रम में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा सकता है –

'माता का गर्भ – एक ऐसी 'प्रकृति' है जिसमें 'देवतत्व' के व्यापक समूह द्वारा प्रदत्त सूक्ष्मतम जीव (परमतत्व का अंश यानी आत्मा) को नौ माह तक संरक्षण मिलने के साथ – साथ निरंतर क्रम में एक ऐसा भौतिक आकार मिलता है जो गर्भ से बाहर आने पर अपने मानव अस्तित्व को स्वतः प्राप्त कर लेता है। मानव स्रष्टि की इस पूरी प्रक्रिया में

‘माता’ के सुख और असह्य कष्ट का अनुभव विश्व में कोई दूसरा नहीं कर सकता है। चाहे, वह ‘देवतत्व’ ही क्यों न हो।

उपरोक्त क्रम को ध्यान में रखते हुए कोई भी व्यक्ति ‘माता’ की उपेक्षा करके ‘भौतिकता/आध्यात्मिकता’ के मध्य रचनात्मक रस्ता ढूँढ़ – खोज ले, यह असम्भव सा है।

2.पिता – किसी भी व्यक्ति के अस्तित्व को आकार देने का श्रेय पिता को होता है। प्रकृति का कोई भी अंश पुरुष या देवतत्व के बिना अधूरा रहता है। प्रकृति में जब तक अंकुरण होता है तब तक वह उर्वरा रहती है।

माता के गर्भ यानी प्रकृति में सूक्ष्मतत्व का प्रवेश पिता के माध्यम से होता है। बच्चे के जन्म के उपरान्त पिता का संरक्षण ऐसे छाता के रूप में होता है जो उसे हर झंझावातों से किसी न किसी रूप में निरंतर मुक्ति देता रहता है।

बच्चे के बहुमुखी विकास में ‘माता – पिता’ का बराबर का योगदान होता है। इन दोनों के किसी भी प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन सम्भव नहीं है। क्योंकि दोनों के रचनात्मक सहयोग से ही बच्चा बड़ा होकर ऐसे मानव का स्वरूप धारण करता है जिसमें उसके ‘माता – पिता’ की सामूहिक कृति निरंतर किसी न किसी रूप में झलकती रहती है। इसलिए व्यक्ति के लिए, यदि ‘माता’ भौतिक देवी के रूप में परिलक्षित होती है तो पिता भौतिक ‘देवता’ के रूप में।

3. गुरु – गुरु का स्थान, बच्चे के लिए कितना महत्वपूर्ण है इसका मूल्यांकन करना सरल नहीं है। बच्चे का पहला गुरु जो उसे अक्षर ज्ञान देता है वह उसके लिए आजीवन पूजनीय है। क्योंकि बच्चे को अक्षर ज्ञान देते समय गुरु का ‘अन्तःबाह्य’ निरंतर यह सोचता रहता है कि – यह बच्चा बड़ा होकर अपने अन्तः के बहुमुखी संस्कारों की रक्षा करने में पूर्णतः सक्षम होगा। इसलिए ‘माता – पिता’ और गुरु’ के सामूहिक प्रयास से ही बच्चे का बहुमुखी विकास हर तरह से सम्भव है।

उपरोक्त त्रयी विवेचना का संक्षिप्त रूप प्रस्तुत करने के उपरान्त, यह कहना सार्थक होगा कि – व्यक्ति ‘साधक/साधिका’ के साधना क्रम में ‘माता – पिता और गुरु’ का स्थान भौतिक क्रम में ‘देवी/देवता’ से किसी भी मायने में कम नहीं है। इन त्रयी विभूतियों की धार्मिक/आध्यात्मिक विवेचना का संक्षिप्त क्रम निम्न प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जा सकता है –

‘स्रष्टि के आरम्भ में देवतत्व के व्यापक समूह से ‘मानव’ जाति की उत्पत्ति हुई। उसके उपरान्त, निरंतर ‘मानव’ श्रृंखला का संवर्द्धन और बहुमुखी विकास होता चला गया। ‘जन्म, मृत्यु और जन्म’ के क्रमिक क्रम में असंख्य – असंख्य मानव के उत्पत्ति का नियामक और प्रथम स्रोत ‘ईश्वरतत्व’ का अति व्यापक समूह/महासमूह ही रहा होगा। ऐसे में, ‘माता – पिता और प्रथम गुरु’ को भौतिक ‘देवी/देवता’ मानने में किसी भी व्यक्ति को

रंचमात्र भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए। हां, न मानने की स्थिति में वह (साधक/साधिका) अपनी 'भौतिक/आध्यात्मिक' साधना प्रक्रिया के अन्तर्गत कितनी क्षति उठा लेगा, यह पहले से निश्चित नहीं किया जा सकता। कभी – कभी तो इसी तरह की क्षति उसके तथाकथित अथक प्रयास को सहज रूप में एक ऐसी असफलता के रूप में परिवर्तित कर देता है जिसका आगे चलकर कोई स्थाई समाधान नहीं बन पाता है।

इन उपरोक्त क्रम को ध्यान में रखते हुए यह निर्विवाद रूप से कहा सकता है कि – 'माता – पिता और प्रथम गुरु' की सेवा और साधना के क्रम में आरम्भिक पूजा करने वाला व्यक्ति कभी भी वह असफलता नहीं प्राप्त कर सकता जो उसके लिए उस क्रम में अपेक्षित है।

उपरोक्त त्रयी बिन्दुओं से भरसक जुड़ने का प्रयास करते हुए उसे 'पारेन्द्रिय विद्या' का यथासम्भव अभ्यास होना चाहिए। 'पारेन्द्रिय विद्या' के अभ्यास के पूर्व या साथ – साथ उसे 'त्राटक' का भी अभ्यास कर लेना चाहिए, क्योंकि इससे उसके अन्तः बाह्य' की संकल्प शक्ति दृढ़ होती है। 'त्राटक' का संक्षिप्त क्रम निम्न हो सकता है –

त्राटक – किसी भी सामान्य आसन पर बैठकर पीत धातु, सामान्य प्रकाश या प्राकृतिक वनस्पतियों को एकटक देखने की प्रक्रिया को त्राटक कहते हैं। उच्चस्थितियों में योग साधक (साधिका) को चाहिए कि वह सिद्धासन पर बैठकर घृत दीप या रक्त पुष्प पर त्राटक करे। सामान्यतः स्फटिक के यन्त्र पर त्राटक करने से किसी प्रकार की हानि नहीं होती है। 'त्राटक' क्रिया करते समय 'साधक/साधिका' को निम्न सावधानी बरतनी चाहिए—

1. साधक को चाहिए कि वह त्राटक की क्रिया को कभी भी तीव्र प्रकाश के साथ न करे।
2. 'त्राटक' के नियमित अभ्यास से नेत्र और मस्तिष्क में उष्णता बढ़ती है।
3. 'साधक/साधिका' को चाहिए कि वह इस क्रिया को देर तक न करे।

उपरोक्त क्रम में 'त्राटक' का अभ्यास वह निम्न तीन क्रम में कर सकता है—

1. आन्तर त्राटक – नेत्र बंद करके भ्रूमध्य, हृदय, नाभि आदि आन्तरिक स्थानों में चक्षुवृत्ति की भावना करके देखते रहना आन्तर त्राटक है।
2. मध्य त्राटक – किसी धातु, पत्थर की बनी हुई वस्तु, भोजपत्र पर रक्तिम चन्दन से लिखे ॐ या स्वास्तिक, रक्तिम पुष्प या प्राकृतिक दृश्यों पर टकटकी लगाकर देखते रहना मध्य त्राटक है।
3. बाह्य त्राटक – चन्द्र, प्रकाशित नक्षत्र, प्रातःकालीन उदित सूर्य अथवा दूरवर्ती लक्ष्य पर दृष्टि स्थिर करने की क्रिया को बाह्य त्राटक कहते हैं।

उपरोक्त क्रम में त्राटक के अभ्यास के साथ उसे 'पारेन्द्रिय विद्या' का आवश्यक अभ्यास निम्नक्रम में करना चाहिए –

1. श्वासन, पद्मासन और सिद्धासन करने के उपरान्त, उसे पारेन्द्रिय विद्या का नियमित रूप से दैनिक अभ्यास करना चाहिए।
2. पारेन्द्रिय विद्या, एक ऐसी विद्या है जिसके माध्यम से व्यक्ति सुदूर स्थित किसी व्यक्ति या वस्तु के विषय में आवश्यक जानकारी प्राप्त कर सकता है। इस विद्या से गहराई से जुड़ने के लिए व्यक्ति को ध्यानमार्ग का भी सशक्त अभ्यास होना चाहिए।
3. ध्यानमार्ग और पारेन्द्रिय विद्या का समन्वयात्मक स्वरूप का दैनिक सशक्त अभ्यास, व्यक्ति 'साधक/साधिका' को इतना समर्थ और सशक्त बना देता है जिससे वह सुदूर स्थित दूसरे व्यक्ति या समस्यायुक्त के विषय में काफी कुछ जान समझ लेता है।
4. साधना के वास्तविक परिप्रेक्ष्य को गहराई से जानने समझने के लिए 'पारेन्द्रिय विद्या' का समुचित ज्ञान और अभ्यास अति आवश्यक है। यही वह सही मार्ग है जिससे व्यक्ति 'आत्मा और परमात्मा' के वास्तविक और रचनात्मक स्वरूप को जानने समझने का प्रयास कर सकता है।
5. पारेन्द्रिय विद्या के माध्यम से व्यक्ति किसी भी धर्म/मजहब से सम्बन्धित 'महाशक्ति' से जुड़ने का प्रयास कर सकता है।

उपरोक्त क्रमों को ध्यान में रखते हुए, यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि – व्यक्ति को किसी भी ईश्वरीय 'शक्ति/महाशक्ति' की साधना आरम्भ करने से पूर्व 'माता – पिता और प्रथम गुरु' का यथोचित सम्मान और सेवा करना, आवश्यक योगाभ्यास करना और पारेन्द्रिय विद्या का समुचित ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक ही नहीं बल्कि उससे साधना का समुचित मार्ग प्रशस्त होता है।

उपरोक्त उचित मार्ग पर चलते हुए व्यक्ति 'साधक/साधिका' साधना की किसी भी ऊच्च स्थिति को प्राप्त कर सकता है। साधना के इस क्रमिक मार्ग में व्यक्ति के अन्तः बाह्य की सोच का क्रम निम्न होना चाहिए –

1. यदि वह अपने 'अन्तः बाह्य' में साधना के क्रम में आनन्द या परमानन्द को खोजने ढूँढ़ने लगेगा तो उसकी साधना का आपेक्षित प्रतिफल किसी न किसी रूप में आत्मकेन्द्रित होने लगेगा। ऐसे में, उसके अन्तः में अहंकार या सर्वोच्चता का प्रस्फुटन होना स्वाभाविक है।
2. व्यक्ति 'साधक/साधिका' को 'सकाम' और 'निष्काम' – दोनों तरह की साधना करनी चाहिए। अपने ईष्ट या अभिष्ट महाशक्तियों की साधना उसे 'निष्काम' क्रम में करनी चाहिए। उसमें वह स्वः आनन्द का अनुभव कर सकता है।

‘निष्काम’ साधना पूर्ण करने के बाद कम से कम एक पहर ‘तीन घंटा’ का अन्तराल पूर्ण करके व्यक्ति को सकाम साधना आरम्भ करनी चाहिए। सामान्य क्रम में व्यक्ति को चाहिए कि वह निष्काम साधना को ब्रह्म वेला या रात्रि में पूर्ण कर ले और सकाम साधना को सूर्योदय का बाद करे। ‘सकाम’ और ‘निष्काम’ – इन दोनों साधनाओं में उसे भरसक ‘पारेन्द्रिय विद्या’ का उपयोग करना चाहिए।

अब प्रश्न यह उठता है कि ‘निष्काम’ या ‘सकाम’ में से केवल एक ही साधना करके व्यक्ति अपने लक्ष्य या ईष्ट से रचनात्मक सम्बन्ध बना सकता है ? – यह आध्यात्मिक क्रम विद्वत्जन के लिए नये सिरे से विचारणीय है। इन दोनों साधनाओं का रचनात्मक या विध्वंसात्मक प्रभाव क्या हो सकता है, इसे निम्नक्रम में समझा जा सकता है—

1. निष्काम साधना – इस साधना के अन्तर्गत, शनैः शनैः व्यक्ति ‘साधक/साधिका’ के अन्तः का ‘चक्र’ (मूलाधार, स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपुरचक्र, अनाहत चक्र, विशुद्धचक्र, आज्ञाचक्र और सहस्रार) जागृत अवस्था में आने लगता है। वहीं से उसे किसी न किसी रूप में आनन्द की अनुभूति होने लगती है। उसी क्रम में वह आगे बढ़ते बढ़ते घर समाज से विरक्त होने लगता है। ऐसे में उसके जीवन का समग्र दायित्व लगभग शून्य सा हो जाता है। इसका प्रतिफल यह होता है कि वह घर समाज के दायित्वों को कर्म के माध्यम से नहीं पूरा कर पाता है। ऐसे में, यदि उसे ‘जन्म जन्मान्तर’ के क्रम में कर्मों के अन्तर्गत जुड़ना पड़ा तो वह अपने अन्तःबाह्य के अधूरेपन को कभी नहीं भर पायेगा।

2. सकाम साधना – इस साधना के अन्तर्गत, वह जिस साधना के मार्ग में आगे बढ़ता है, उसी क्रम में वह परोपकार भी करता रहता है। उसका यह परोपकार भौतिकता में तो उसे अमरत्व की ओर ले जायेगा और साथ ही साथ ‘जन्म जन्मान्तर’ के क्रम में वह पूर्वोक्त अधूरेपन से विशेष प्रभावित नहीं होगा। लेकिन इस मार्ग में ‘निष्काम’ साधना भी आवश्यक है। क्योंकि अन्ततः उसके पास क्या अवशेष बचेगा।

3. ‘सकाम’ और ‘निष्काम’ साधना करने वाला व्यक्ति ‘साधक/साधिका’ पारेन्द्रिय क्रम में ‘लोक/परलोक’ की अनवरत् यात्रा में निरंतर संतुलित अवस्था में रहेगा। उसके ‘सूक्ष्म – स्थूल’ का संयोजन और विखंडन निरंतर संतुलित होते हुए ‘जन्म – मृत्यु और जन्म’ के क्रमिक यात्रा में इधर उधर रंचमात्र भी नहीं भटकेगा। यही नहीं, बल्कि इस अनवरत् साधना के अन्तर्गत वह असाधुकृत्यों से भी दूर रहने का प्रयास करेगा।

जीवन के दश दशक के क्रम में, वह कोई भी ऐसा अवशेष पीछे नहीं छोड़ेगा जो आगे आने वाली वंश परंपरा के लिए घातक सिद्ध हो। इस क्रमिक सोच का कैनवास, यदि समाज के न्यूनतम् इकाई से अति बृहद् सामाजिक व्यवस्था से जुड़ने का प्रयास करे तो व्यक्ति के जीवन का अर्थ ही बदल जायेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि ‘संस्कार’ आदि का संतुलन जब रचनात्मक होगा तो व्यक्ति न चाहते हुए भी असाधुकृत्य से हटकर साधुकृत्य से जुड़ने का हर सम्भव प्रयास करेगा।

उपरोक्त शोधपरक वक्तव्य और सारगर्भित सोच से इतना तो स्पष्ट हो गया है कि – व्यक्ति 'साधक/साधिका' को 'धार्मिक/आध्यात्मिक' क्रम में साधना करने के पूर्व एक ऐसा पड़ाव निर्मित करना होगा जो उसके आगामिक यात्रा के अधिकांश रूकावटों या अवरोधों को निर्मूल करने में सक्षम हो सके।

जटा जूट बढ़ाकर बड़े – बड़े मन्त्रों को लम्बे चौड़े उट पटान स्थलों पर जपने से व्यक्ति की साधना नहीं पूरी होती है। जहां तक बल प्रयोग का प्रश्न है वहां निम्न सोच सार्थक लगती है –

1. एक बड़े गुण्डे – मवाली के पास भी बल और असाधुकृत्यों से सम्बन्धित शक्ति होती है। जिसे पैशाचिक शक्ति भी कहा जा सकता है। लेकिन उसके कार्य करने या बल प्रयोग करने की प्रक्रिया 'अधार्मिक, पैशाचिक और असामाजिक' होती है।

2. एक सशक्त पहलवान के पास भी बल और कई व्यक्तियों के बराबर शक्ति होती है। लेकिन वह अपना बल प्रयोग किसी दूसरे सक्षम व्यक्ति के चुनौती या विविध प्रतिस्पर्द्धा के अन्तर्गत करता है। इस बल प्रयोग में सामाजिक 'न्याय और अन्याय' – दोनों की सम्भावना हो सकती है। क्योंकि इसमें स्वः नियंत्रण की क्षमता कम होती है।

3. व्यवस्था सम्बन्धी विविध अधिकारी 'पुलिस – प्रशासन, न्याय सम्बन्धी न्यायकर्ता आदि' के पास भी बल और शक्ति – दोनों होती है। उसमें से अधिकांश अधिकारी अपने तथाकथित 'बल और शक्ति' का प्रयोग करके 'सत्य और न्याय' के परिप्रेक्ष्य में विविध विकृत समाज को अपने अपने ढंगक्रम से सुधारने का प्रयास करते हैं। अब यह बात दूसरी है कि वह लोग इस जटिल कार्य में कितना सफल और सक्षम हो पाते हैं। क्योंकि इनके पास भौतिकता तो है लेकिन उसी के अनुपात में आध्यात्मिकता का अभाव भी है।

4. एक व्यक्ति 'साधक/साधिका' जो 'भौतिकता और आध्यात्मिकता' – दोनों से जुड़ा है यानी उसके साधना का क्रम 'मेटाफिजिकल' व्यवस्था के अन्तर्गत है वह अपने बल और स्वः अर्जित शक्ति का उपयोग स्रष्टि की अव्यवस्था को सार्थक और लोकप्रिय व्यवस्था के स्थायित्व के लिए करता है। लेकिन स्रष्टि के सापेक्ष में यह रचनात्मक कार्य वही कर पाता है जो 'सकाम' और 'निष्काम' साधना में बराबर की दखल रखने की क्षमता रखता हो।

उपरोक्त क्रम में 'बल और शक्ति' को ध्यान में रखते हुए यह प्रामाणिक आधार पर कहा जा सकता है कि – 'जिस तरह से एक छोटे से बीज से विशाल वृक्ष का निर्माण होता है, जिस तरह से एक बूंद वीर्य से एक सक्षम/सशक्त व्यक्ति का निर्माण होता है, जिस तरह से असंख्य सूक्ष्म से सूक्ष्म कणों से प्रकृति के तमाम अवयवों का निर्माण होता है, उसी तरह क्रमिक क्रम में मन्त्रों के निरंतर आवृत्ति से उन आध्यात्मिक शक्ति का असीमित फैलाव होता है जो किसी न किसी क्रम में स्रष्टि के नियामक तक बन जाते हैं।

व्यक्ति अपने अन्तः बाह्य की क्षमता से अधिक, यदि अमृत भी ग्रहण करता है तो वह किसी न किसी रूप में उसके लिए विष बन जाता है। उसी क्रम में, यदि कोई भी मन्त्र जो उसकी ग्राह्य क्षमता से विपरीत है वह उसके लिए हानिकारक या अनिष्टकारी सिद्ध हो सकता है। व्यक्ति 'साधक/साधिका' के सापेक्ष मन्त्रों की उपयोगिता या अनुपयोगिता सिद्ध करने के पूर्व मन्त्रों की आवश्यक जानकारी, हर व्यक्ति जो उससे जुड़ना चाहता है उसके लिए आवश्यक है। इसे निम्नक्रम में समझा जा सकता है –

1. ऋषि – 'भौतिकता और आध्यात्मिकता' के क्रम में 'ऋषि' मन्त्र का स्रष्टा होता है। पूर्व 'परा/अपरा' अवधारणा के अनुसार – जिस व्यक्ति 'साधक' ने सर्वप्रथम भगवान शिव के मुख से मन्त्र सुनकर उसे विधिवत् सिद्ध किया था, वह उस मन्त्र का ऋषि कहलाता है। इसकी अभिव्यक्ति निम्न क्रम में भी हो सकती है –

'ईश्वरीय अवशेषों के व्यापक समूह से जुड़ने और उसे समझने वाले व्यक्ति 'साधक' को 'ऋषि' कहा जा सकता है।'

2. छन्द – किसी भी मन्त्र को सर्वतोभावेन आच्छादित करने की विधि को 'छन्द' कहते हैं। अक्षर या पदों से छन्द बनता है। इसलिए इसका उच्चारण मुख से होता है।

3. देवता – समस्त जीवों के सभी क्रिया कलापों को प्रेरित, संचालित और नियंत्रित करने वाली प्राणशक्ति को 'देवता' कहते हैं।

4. बीज – मन्त्र शक्ति को उद्भावित करने वाला तत्व 'बीज' कहलाता है। बीज का स्रोत/आधार 'गुप्तांग' होता है।

5. शक्ति – जिसके सहयोग और प्रभाव से बीज मन्त्र बनता है, उसे तत्व 'शक्ति' कहते हैं। इसका आधार पाद होता है।

'मन्त्र' सम्बन्धी उपरोक्त बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए कतिपय आवश्यक और मानवपयोगी मन्त्रों का उल्लेख यहां करना आवश्यक है –

1. 'क्लीं हृषिकेशाय नमः'।

(विशेष – यह भगवान विष्णु का आठ अक्षर का मन्त्र है। इस मन्त्र के ऋषि – नारद, छन्द – गायत्री और देवता – त्रैलोक्यमोहन हैं।)

2. 'ॐ ह्रीं दुं दुर्गायै नमः'।

(विशेष – यह भगवती दुर्गा का आठ अक्षर का मन्त्र है। इस मन्त्र के ऋषि – नारद, छन्द – गायत्री और देवता – भगवती दुर्गा हैं।)

3. 'ॐ नमः शिवाय'।

(विशेष – यह शैव परंपरा का छह अक्षर का मन्त्र है। इस मन्त्र के ऋषि – वामदेव, छन्द – पंक्ति और देवता – सदाशिव हैं।)

कतिपय ऐसे भी अति प्रभावशाली मन्त्र अति आवश्यक हैं जिनमें एक से अधिक ऋषि हैं, एक से अधिक छन्द हैं और एक से अधिक देवता। ऐसे अति प्रभावशाली मन्त्रों को निम्न क्रम में प्रस्तुत किया जा सकता है –

1. 'ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे'।

(विशेष – यह भगवती दुर्गा का 9 अक्षर का मन्त्र है। इस मन्त्र के ऋषि – ब्रह्मविष्णुरुद्र, छन्द – गायत्र्युष्णिगनुष्टुप और देवता – श्रीमहाकाली महासरस्वती महालक्ष्मी हैं।)

2. 'ऊँ हौं ऊँ जूं सः भूर्भुवः स्वः त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टि वर्धनं, उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मूक्षीय मामृतात् भूर्भुवः स्वरो जूं सः हौं ऊँ'।

(विशेष – यह शैव परंपरा का 51 अक्षर का मन्त्र है। इसे 'महामृत्युंजय' मन्त्र कहते हैं। इस मन्त्र के ऋषि – वामदेव, कहोल और वसिष्ठ, छन्द – पंक्ति, गायत्री और अनुष्टुप, देवता – सदाशिव, महामृत्युंजय और रुद्र हैं।)

उपरोक्त मन्त्रों के आकार – प्रकार और 'ऋषि, छन्द और देवता' के आधिक्य को देखकर सामान्यतः व्यक्ति 'साधक/साधिका' के अन्तः मन में यह अवश्य आयेगा कि – उन्हीं मन्त्रों का जप ध्यान किया जाय जो अति प्रभावशाली मन्त्र हैं या जिनमें 'ऋषि, छन्द और देवता' आदि का आधिक्य है। लेकिन उनका यह सोचना 'साधना' के क्रम में सार्थक नहीं है।

सामान्यतः विज्ञ धर्माचार्यों और सिद्ध साधकों ने मन्त्रों को निम्न तीन वर्गों में विभक्त किया है –

1. बीजमन्त्र – दस अक्षरों तक के मन्त्र को 'बीजमन्त्र' कहते हैं।

2. मन्त्र – ग्यारह से बीस अक्षरों तक के मन्त्र को 'मन्त्र' कहते हैं।

3. मालामन्त्र – बीस से अधिक अक्षरों तक के मन्त्र को 'मालामन्त्र' कहते हैं।

सामान्य क्रम में व्यक्ति 'साधक/साधिका' को 'पारेन्द्रिय क्रम' में साधना के लिए 'बीजमन्त्र' का चयन किसी योग्य और सिद्ध साधक के निर्देशन और संरक्षण में करना चाहिए। 'बीजमन्त्र' की संरचना और उपयोगिता को समझते हुए उसका चयन करना चाहिए। बीजमन्त्रों का संक्षिप्त विवरण और उनकी सार्थकता को निम्नक्रम में प्रस्तुत किया जा सकता है –

‘शब्द’ का एक ऐसा भी स्वरूप है जिसे किसी यन्त्रादि की सहायता से नहीं सुना जा सकता । उसे यौगिक अन्तःमन ही स्वानुभूति रूप में ग्रहण कर सकता है। इसे निम्नक्रम में व्यक्त किया जा सकता है –

‘आदि काल में जब प्रकृति साम्यावस्था में थी, तब अवश्य किसी प्रकार का ‘शब्द’ अस्तित्व में नहीं था क्योंकि उस समय भौतिक संसार की कोई गति नहीं थी। क्रमिक क्रम में पहली ध्वनि तब हुई, जब वैषम्यावस्था होने के कारण सारी प्रकृति में एक प्रकार का सामान्य स्पन्दन व्याप्त हो गया। सम्भवतः यही थी ‘ऊँ ’ शब्द की प्रणव – ध्वनि’।

‘ऊँ ’ केवल उस सूक्ष्म ‘शब्द’ के स्थूल उच्चारण को व्यक्ति के कानों तक लगभग व्यक्त करता है। यही ‘सूक्ष्म’ शब्द योगानुभव में प्रथम गति के रूप में अनुभूत होता है क्योंकि प्रतिक्षण सृष्ट्यात्मक गति वर्तमान रहती है। इस सामान्य ‘स्पन्द’ और ‘शब्द’ से विशेष ‘स्पन्द’ और ‘शब्द’ उत्पन्न होते हैं। प्रकृति के गुणों की गति से पहले साम्यवस्था में एक सामान्य सी हलचल उत्पन्न होती है, उसके बाद गुणों की एक दूसरे पर क्रिया और प्रतिक्रिया होती है।

विविध गत्यात्मक दशाओं के प्रस्तुत होने पर विभिन्न ‘शब्द’ उत्पन्न होते हैं। प्रथम और समस्त में समभाव से व्यापक शब्द ‘ऊँ ’ है जो महाबीज है क्योंकि यह अन्य सबका और सभी संयुक्त शब्दों का मूल है। ‘ऊँ ’ सामान्य ‘शब्द’ है और बीजमन्त्र विशेष ‘शब्द’ हैं जो वर्णमाला के अक्षर कहलाते हैं। यही अक्षर सामान्य ‘शब्द’ से विकास पाते हैं। इन विशिष्ट शब्दों में उक्त सामान्य शब्द अन्तर्निहित रहता है। इस प्रकार मुख से उच्चारित ‘ऊँ ’ कार या ‘प्रणव’ और ‘बीजमन्त्र’ अनुच्चरित आदि ध्वनि के उच्चरित प्रतिनिधि हैं। यह अपनी अन्तिम अवस्था में इस उच्चरित रूप को प्राप्त करते हैं।

सामान्यतः ‘शब्द’ की चार अवस्थाएं होती हैं। इन्हें निम्न क्रम में प्रस्तुत किया जा सकता है –

1. परा – गति की प्रेरणा।
2. पश्यन्ती – सामान्य गति।
3. मध्यमा – सूक्ष्म प्रकार की विशेष गति , जो सूक्ष्म श्रवण – शक्ति द्वारा ही अनुभव में आती हैं।
4. बैखरी – विशेष गति, जो वाणी के रूप में पूर्ण उच्चरित शब्द है, जिसे स्थूल कानों से सुना जा सकता है। इन अवस्थाओं में से अन्तिम अवस्था ‘बैखरी’ या स्पष्टतर स्पन्द में ही शब्द का उच्चरित रूप अस्तित्व में आता है।

प्रणव – मन्त्र ‘ब्रह्म का शब्द रूप है और बीजमन्त्र उसके विभिन्न सगुण देवतात्मक स्वरूप हैं। ‘ऊँ ’ को ‘अ, उ और म’ – इन तीन वर्णों से बना माना जाता है,

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि आदि – ध्वनि इन वर्णों या इनके सम्मिश्रण जैसी थी क्योंकि ये वर्ण तो आदि – ध्वनि से विकसित होते हैं। इसके पहले भी आदि ध्वनि होती है। इसका तात्पर्य यह है कि 'ऊँ' का जो स्थूल शब्द स्थूल कानों से सुना जाता है, वह उक्त वर्णों की सन्धि या मिश्रण का फल है। अतः 'ऊँ' शब्द नाभि से विकास पाकर क्रमिक क्रम में और गम्भीर उत्थानपूर्वक अग्रसर होता हुआ नासिका के ऊर्ध्व भाग में, जहां चन्द्रबिन्दु ध्वनित होता है, समाप्त होता है।

वर्ण – संख्या के आधार पर मन्त्रों के विभिन्न नाम हैं। बीजमन्त्र वह मन्त्र है जिसमें केवल एक वर्ण हो। सामान्यतः सभी मन्त्रों की समाप्ति चन्द्र – बिन्दु से होती है। इसी क्रम में यहां एक दूसरा वर्ण भी विद्यमान है। क्योंकि स्वर का उच्चारण इस प्रकार का हो ही नहीं सकता कि वह पूर्ण रूप से समाप्त हो जाये। इसके लिए व्यंजन की सहायता ली जाती है क्योंकि व्यंजन का कार्य ही है – स्वर की ध्वनि को रोकना। व्यंजन का उच्चारण स्वर के बिना नहीं हो सकता और इसी से स्वर को व्यंजन की शक्ति माना जाता है।

बीज – समापक 'म्' नासिका के अन्तराल में ऊर्ध्व भाग में ही उच्चरित होता है और होठों तक कभी नहीं पहुंच पाता। अन्य सभी वर्णों में 'पंचमहाभूत' (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी) में से एक न एक भूत की प्रधानता रहती है। जिस वर्ण में किसी भूत का आधिक्य होता है, उसे 'प्रश्वासपूर्वक' कहा जाता है और जिसमें न्यूनता होती है, 'निःश्वासपूर्वक'। बीज की परि – समाप्ति के लिए 'म्' चुना जाता है क्योंकि इसमें पांचों भूत साम्यावस्था में विद्यमान रहते हैं।

प्रत्येक 'देवता' या विविध ईश्वरीय सूक्ष्मों के समूह का कोई न कोई 'बीज' होता है। किसी भी देवी या देवता की पूजा/अर्चना में जो मन्त्र मुख्यतया प्रयुक्त होता है, वह उसका 'मूलमन्त्र' कहा जाता है। प्रत्येक वर्ण, अक्षर और मन्त्र 'ब्रह्म' का ही रूप है और यही बात मूर्ति तथा मन्त्र की रेखाओं और संसार के समस्त पदार्थों के सम्बन्ध में लागू होती है।

'हँ, यँ, रँ, लँ और वँ' – पंचभूतों के बीज हैं। जहां एक से अधिक वर्ण होते हैं वहां प्रत्येक बीज का अपना – अपना अर्थ होता है। 'वरदा तन्त्र' (छठा अध्याय) में आये 12 बीज – मन्त्रों को निम्न क्रम में प्रस्तुत किया जा सकता है –

1. 'हौँ' – इस 'बीजमन्त्र' में तीन वर्ण 'ह, औ और ॐ' है। इनका अर्थ निम्न हो सकता है—

ह – शिव, औ – सदाशिव और ॐ – दुःख दूर करता है।

इस बीजमन्त्र से भग0 शिव की पूजा करनी चाहिए।

2. 'दुँ' – इस 'बीजमन्त्र' में आये वर्णों का निम्न अर्थ हो सकता है –

द - दुर्गा, उ - रक्षा करना, नाद - विश्व की माता और बिन्दु - प्रार्थना करना।

इस बीजमन्त्र से भग0 दुर्गा की पूजा करनी चाहिए।

3. 'कीं'- इस 'बीजमन्त्र' में आये वर्णों का निम्न अर्थ होगा -

क - काली, र - ब्रह्म, ई - महामाया, नाद - विश्व माता और बिन्दु - दुःखहर्ता।

इस बीजमन्त्र से भग0 काली की पूजा करनी चाहिए।

4. 'ह्रीं'- इस 'बीजमन्त्र' में आये वर्णों का निम्न अर्थ हो सकता है -

ह - शिव, र - प्रकृति, ई - महामाया, नाद - विश्वमाता और बिन्दु - दुःखहर्ता।

इस 'बीजमन्त्र'से भग0 भुवनेश्वरी की पूजा करनी चाहिए।

5. 'श्रीं'- इस 'बीजमन्त्र' में आये वर्णों का निम्न अर्थ हो सकता है -

श - महालक्ष्मी, र - सम्पत्ति, ई - सन्तुष्टि, नाद - अपर ब्रह्म या ईश्वर और बिन्दु - दुःखहर्ता।

इस 'बीजमन्त्र'से भग0 महालक्ष्मी की पूजा करनी चाहिए।

6. 'ऐं'- इस 'बीजमन्त्र' में आये वर्णों का निम्न अर्थ हो सकता है -

ऐ - सरस्वती और बिन्दु - दुःखहर्ता।

इस 'बीजमन्त्र' से भग0 सरस्वती की पूजा करनी चाहिए।

7. 'क्लीं'- इस 'बीजमन्त्र' में आये वर्णों का निम्न अर्थ हो सकता है -

क - कामदेव या कृष्ण, ल - इन्द्र, ई - सन्तुष्टि और अं - सुख और दुःख देने वाला।

8. 'हूं' - इस 'बीजमन्त्र' में आये वर्णों का निम्न अर्थ हो सकता है -

ह - शिव, ऊ - भैरव, नाद - परा और बिन्दु - दुःखहर्ता।

9. 'गँ' - इस 'बीजमन्त्र' में आये वर्णों का निम्न अर्थ हो सकता है -

ग - गणेश और बिन्दु - दुःखहर्ता।

10. 'ग्लौं'— इस 'बीजमन्त्र' में आये वर्णों का निम्न अर्थ हो सकता है —

ग — गणेश, ल — व्यापक, अ — तेज, बिन्दु — दुःखहर्ता ।

इस बीजमन्त्र से भग0 गणेश की पूजा होती है ।

11. 'क्षौं'— इस 'बीजमन्त्र' में आये वर्णों का निम्न अर्थ हो सकता है —

क्ष — नृसिंह, र — ब्रह्म, औ — ऊपर को उठा हुआ दांत, बिन्दु — दुःखहर्ता ।

इस बीजमन्त्र से भग0 नसिंह की पूजा होती है ।

12. 'स्त्रीं'— इस 'बीजमन्त्र' में आये वर्णों का निम्न अर्थ हो सकता है —

स — कठिनाईयों से छुटकारा, त्र — त्राणकर्ता, र — मोक्ष, ई — महामाया, नाद — विश्वमाता और बिन्दु — दुःखहर्ता ।

उपरोक्त 'देवी / देवता' से सम्बन्धित 'बीज' साधना प्रक्रिया के लिए मूलतः सहायक हो सकता है लेकिन 'पारेन्द्रिय विद्या' के क्रम में क्लिष्टता के कारण बहुत सुविधाजनक हो, यह आवश्यक नहीं है । इसलिए उस क्रम में व्यक्ति 'साधक / साधिका' को 'पारेन्द्रिय' ध्यान में उन्हीं बीजमन्त्रों का उपयोग करना चाहिए जों श्वांस प्रक्रिया से जुड़ने में सहायक सिद्ध हो । केवल 'ऊँ ' एक ऐसा बीज है जिसका उपयोग, व्यक्ति 'साधक / साधिका' 'पारेन्द्रिय क्रम' के आरम्भिक यात्रा में स्वतः कर सकता है ।

इस साधकीय क्रम में वह एक ही 'महाशक्ति' से सम्बन्धित साधना में एक से अधिक मन्त्रों का उपयोग कर सकता है । यदि वह साधना के क्रम में 'क्लीं कालिकायै नमः' मन्त्र का उपयोग करता है तो 'पारेन्द्रिय क्रम' के अभ्यास या अभिष्ट कार्य हेतु 'श्मशान कालिकायै नमः' मन्त्र का प्रयोग / उपयोग कर सकता है ।